धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज

प्रफुल्ल कोलख्यान

धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज के बीच के संबंधों की जटिलताओं को समझने के लिए इनके गठन की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझना जरूरी है। इन जटिलताओं को बहुत संवेदनशील बना दिया गया है। इस पर किये जानेवाले संवाद में अतिरिक्त संवेदनशीलता और संतुलन की भी जरूरत है। किसी भी प्रकार के सरलीकरण और अधीर कथन से संवाद की प्रक्रिया क्षतिग्रस्त हो सकती है। यह विचार सत्र वर्धमान विश्वविद्यालय के परिसर में हो रहा है। यहाँ उपस्थित अधिकतर लोगों के मन में शिक्षा के सरोकारों के प्रति थोड़ा बहुत अनुराग और आदर निश्चय ही बचा हुआ है। इस कार्यक्रम के एक विश्वविद्यालय के परिसर में आयोजित होने के कारण देश की राजधानी दिल्ली में 26 नवंबर 2002 को निकाली गई अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्

की रैली विशेष रूप से उल्लेखनीय लग रही है। इस रैली ने शिक्षा के 'भारतीयकरण' की माँग की है। शिक्षा का भारतीयकरण हो, इस बात पर क्या आपत्ति हो सकती है? लेकिन असल सवाल यह है कि यह 'भारतीयकरण' क्या है? 'भारतीयकरण' से अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् का आशय क्या है? 'भारतीयकरण' के बहुजन ग्राह्य स्वरूप और भारतीय विद्यार्थी परिषद् का आशय क्या एक ही हैं?

सभ्यता में आधुनिक चेतना के समावेश के बाद से शिक्षा का एक वैश्विक आयाम सर्वदा आकांक्षित रहा है। इसी आकांक्षा के कारण शिक्षा के शिखर संस्थानों को विश्वविद्यालय कहा जाता है। आज जब जीवन के अन्य प्रसंगों में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को, विश्व-स्तरीय जनविरोध के बावजूद, निर्बाध चलाने की कोशिश की जा रही है। शिक्षा के 'भारतीयकरण' की माँग अपने आशय में इस भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की विरोधी है या राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत प्रतीत होनेवाली यह माँग भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की ही मददगार है? विज्ञान और वाणिज्य की शिक्षा का भारतीयकरण क्या हो सकता है! सीधी बात यह है कि 'भारतीयकरण' की इस माँग का संदर्भ मानविकी से जुड़ता है। हम जानते हैं मानविकी से जुड़े विषयों, विशेषकर इतिहास, साहित्य आदि से संबंधित विषयों, को लेकर पिछले कुछ वर्षों से किस प्रकार का शैक्षणिक और सामाजिक वातावरण बनाने की कोशिश निरंतर की जा रही है। इस वातावरण में इस माँग से जो संकेत मिलते हैं उससे तो यही लगता है कि कहीं न कहीं 'भारतीयता' और 'हिंदुत्व' को एक दूसरे का समव्यापी पर्याय मानकर ही यह माँग की जा रही है। अगर यह संकेत सच है तो स्थिति बहुत ही भयावह है। ऐसा इसलिए कि तब शिक्षा के 'भारतीयकरण' की माँग असल में शिक्षा के 'हिंदुत्वीकरण' की ही माँग ठहरती है। इस माँग का एक सिरा मिशनरियों के स्कूलों और मदरसों के पाठ्यक्रम से भी जुड़ जा सकता है। अभी सर्वोच्च न्यायलय का इस मामले में एक महत्त्वपूर्ण फैसला भी सामने आया है। मोटे तौर पर राज्य से अनुदान प्राप्त शिक्षण संस्थान को ही सरकार के अनुमोदन की जरूरत रह जाती है। जो अनुदान न दे उसके अनुमोदन की परवाह वैसे भी कौन करता है! जब शिक्षा के आधार पर राज्य हमें जीवनयापन की बुनियादी सुविधाएँ देने की स्थिति में ही नहीं रहेगा तब उसके द्वारा किसी की शिक्षा को मान्य या अमान्य करने से ही क्या फर्क पड़ेगा! लेकिन, शिक्षा का मकसद क्या रोजगार उपार्जन में सक्षम बनाने के प्रयोजन से ही सीमित होता है या जटिल परिस्थितियों में बेहतर सामाजिक और नागरिक निर्णय लेने में सक्षम सामाजिक और नागरिक मन बनाने तक फैला हुआ होता है? इस सवाल पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। औपनिवेशिक राज्य शिक्षा के मकसद को रोजगार में सक्षम बनाने तक सीमित रखता है। स्वाधीन राज्य शिक्षा के मकसद को जटिल परिस्थितियों में बेहतर निर्णय लेने में सक्षम सामाजिक और नागरिक मन बनाने तक

फैलाने की कोशिश करता है। ऐसा सामजिक और नागरिक मन सिर्फ धर्मनिरपेक्ष शिक्षा ही बना सकती है, धर्म आधारित शिक्षा नहीं। लेकिन विद्यार्थी परिषद् की माँग अंतत: शिक्षा को धर्म आधारित बनाये जाने की ओर ही संकेत करती है। आपके ध्यान में होगा कि यह हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकार और क्रांतिकारी यशपाल के जन्म शताब्दी का भी वर्ष है। यशपाल के लेखन का सिंह भाग 'धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्मप्राण प्रजा' की गुत्थियों को समझने और सुलझाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। उन्हें नये माहौल में गंभीरता पूर्वक देखना जरूरी है। यशपाल इस ओर बराबर ध्यान दिलाते हैं:

> 'धार्मिक विश्वास सदा विज्ञान और विकास का दमन करते रहे हैं। याद रखिये, मानव समाज का जितना विकास हुआ है, वह सब धार्मिक विश्वासों की पराजय और पुराने विश्वासों के टूटने से हुआ है।'[1]

ऐसे माहौल में, धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज के बीच के संबंधों की जटिलताओं को समझने की दृष्टि से किया गया यह आयोजन बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है।

राज्य और समाज की उत्पत्ति के जटिल सिद्धांतों में गये बिना भी कहा जा सकता है कि असली सत्ता जनता में निहित होती है। जनता समाज बनाकर रहती है। इसलिए असली सत्ता तो मूल रूप से समाजों के पास ही होती है। समाजों के समवेत से बने राज्य में समाजों की अपनी असली सत्ता अंतरित हो जाती है। राज्य का यह दायित्व है कि वह समवेत समाज से प्राप्त सत्ता का सही और सार्थक इस्तेमाल करते हुए समवेत समाज के हितों की रक्षा करे। सत्ता के समाज से राज्य में अंतरित हो जाने से समाज में एक प्रकार का खालीपन बनता है। इस खालीपन के दुष्प्रभाव से समाज को बचाने की सतत चेष्टा राज्य को करनी चाहिए। यह काम सबसे अधिक जनतंत्रात्मक राज्य में ही संभव होता है। राज्य में जनतंत्र के प्रति व्यावहारिक सम्मान में कमी के कारण यह खालीपन भर नहीं पाता है। इस खालीपन से बचने के लिए समाज राज्य में अपनी सत्ता के सर्वाधिकार के अंतरण को खुले मन से स्वीकार नहीं कर पाता है। वेसे भी, सत्ता इतनी आसानी से कहाँ छूटती है! सत्ता की डोरी के एक छोर पर समाज और दूसरे छोर पर राज्य हमेशा पकड़ बनाये रहते हैं। एक रस्साकशी चलती रहती है। फलत: राज्य और समाज के संबंधों के अंतरावलंबन में एक प्रकार का तनाव सदैव बना रहता है। ऐसी स्थिति में, इस तनाव को टूट और सहनशीलता की सामान्य सीमा के आगे बढ़ने नहीं देने का दायित्व राज्य और समाज दोनों का है। इस दायित्व को पूरा करने का कारगर और प्रमाणिक आधार संविधान प्रदत्त करता है। संविधान इस बात की गारंटी करता है कि चूँकि जनतंत्र में संख्या का अपना महत्त्व होता है इसलिए संख्याबल की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली समाज

और कमजोर समाज के बीच राज्य किसी प्रकार का कोई भेदभाव न करे। किसी भी समाज के बनाव के कई आधार होते हैं। इन कई आधारों में से कोई एक मुख्य आधार होता है। यह मुख्य आधार उस समाज के अधिकतर सदस्यों के मूल चरित्र का निर्मायिक और नियामक होता है। यह दुखद ही है कि ज्ञान-विज्ञान के आज के युग में भी सामाजिकता के लिए 'हम' और 'अन्य' के रूप में चिह्नित किये जाने के मुख्य आधार का अधिकांश धर्म ही बनाता है। इस पेंच को समझना होगा कि ऐसा क्यों होता है। यदि आर्थिक आधार पर सामाजिकता का बनाव होगा तो संसार के सारे धनवान अल्पसंख्यक हो जायेंगे। कहने की जरूरत नहीं कि बहुसंख्यक समाज में अल्पसंख्यक समाज पर चढ़ बैठने की तीव्र प्रवणता होती है। अर्थ के आधार पर बने बहुसंख्यक समाज की अंर्निहित प्रवणता के खतरों से अल्पसंख्यक समाज को बचाने, अर्थात गरीब लोगों के दबाव से अमीर लोगों को बचाने के वास्ते यह जरूरी हो जाता है कि 'हम' और 'अन्य' के रूप में चिह्नित किये जाने के लिए मुख्य आधार के बनाव का निर्मायक और नियामक तत्त्व अर्थ के प्रसंग से तय न होने लगे। इसके लिए धर्म से अधिक विश्वसनीय आधार और क्या हो सकता है? सामाजिकता के बनाव के निर्मायिक और नियामक तत्त्वों का मुख्य आधार धर्म बना रहे इसके लिए धनवानों की सत्ता सदैव सक्रिय रहती है। ऐसी सत्ता, एक हाथ से धार्मिक अल्पसंख्यकों को धार्मिक बहुसंख्यकों के किसी भी प्रकार के दबाव से बचाने का आश्वासन देती है और दूसरे हाथ से धार्मिक बहुसंख्यकों को धार्मिक अल्पसंख्यकों के मन में डर बैठाने के लिए उकसाती भी रहती है। इसमें राज्य सत्ता के द्वारा धर्मनिरपेक्षता का सबसे कुत्सित इस्तेमाल होता है। दुखद है कि भारतीय राज्य सत्ता भी धर्मनिरपेक्षता के इस कुत्सित इस्तेमाल से पूरी तरह बच नहीं पाई है। बल्कि ज्यों-ज्यों भारतीय राज्य में पूँजीवादी रुझानों के समावेश का आग्रह बढ़ता गया त्यों-त्यों धर्मनिरपेक्षता के कुत्सित इस्तेमाल की प्रवृत्ति भी बढ़ती और उजागर होती गई है। राज्य के धर्मनिरपेक्ष होने का मतलब है, धर्मनिरपेक्षता के प्रति राज्य का आग्रहशील होना। धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की व्यापक सामाजिक स्वीकृति के लिए सतत आप्राण चेष्टा करते रहना। लेकिन भारतीय राज्य में ऐसा हुआ नहीं। गोरख पांडेय ने इसे लक्षित करते हुए कहा था:

> 'धर्म निरपेक्षता राज्य के एक गुण के रूप में विकसित हुई। जिसके अनुसार वह धर्म को व्यक्तिगत सरोकार मानेगा, सामाजिक संबंधों से धर्म को अलग करेगा और धर्म के आधार पर किसी को विशेषाधिकार न प्रदान करेगा। इसका आशय यह भी है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य अपनी विचार-धारा निर्मित और प्रचारित करेगा, बुद्धि और तर्क को प्रोत्साहन देगा और धार्मिक चेतना के आग्रहों को अप्रासंगिक बनाता जायेगा। अपने देश में धर्म-निरपेक्षता की जो परिभाषा फैलाई गई वह धार्मिकता के ज्यादा करीब थी। इसे सर्वधर्म समभाव या धर्मों से समान सापेक्षता के रूप में लिया जाता

है। इस परिभाषा के अनुसार हमारा शासक वर्ग किसी या सभी धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहन देकर सांप्रदायिकता को मजबूत करता है और उन से वोट की लगातार भ्रष्ट होती गई राजनीति की शतरंज खेलता है।'[2]

सत्ता की धर्मनिरपेक्षता और समाज की धर्मनिरपेक्षता के अंतर को हमें समझना चाहिए। समाज की धर्मनिरपेक्षता के एक स्वरूप के लिए प्रेमचंद साहित्य से एक अनुच्छेद:

> 'जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन भी साझा था। एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गये थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गये थे, और अलगू जब कभी बाहर जाते तो जुम्मन पर अपना घर छोड़ देते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता; केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूलमंत्र भी यही है।'[3]

खान-पान का व्यवहार और धर्म का नाता न रहने पर भी जुम्मन शेख और अलगू चौधरी के बीच साझे में होनवाली खेती, साझा लेन-देन क्या सिर्फ सामान्य खेती और सामान्य लेन-देन ही है या इस साझेपन का कुछ व्यापक सांस्कृतिक आयाम भी है? निश्चित रूप से इस साझेपन का व्यापक सांस्कृतिक आयाम भी है। इस व्यापक सांस्कृतिक आयाम का आधार मित्रता के वास्तविक आधार के रूप में विकसित विचार का साझापन है। धीरे-धीरे समाजिकता का यह साझापन कम होता गया और राज्य ने साझापन के विकास की प्रक्रिया को बढ़ावा देने के अपने दायित्व को स्वीकारा ही नहीं। क्यों? क्योंकि, 'हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।' एक प्रसंग भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' से:

> 'लीजा ने आँखें ऊपर उठायीं ओर रिचर्ड के चेहरे की ओर देखने लगी।
>
> ''क्या गड़बड़ होगी? फिर जंग होगी?''
>
> ''नहीं, मगर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनातनी बढ़ रही है, शायद फसाद होंगे।''
>
> ''ये लोग आपस में लड़ेंगे? लंदन में तो तुम कहते थे ये लोग तुम्हारे खिलाफ लड़ रहे हैं।''
>
> ''हमारे ख़िलाफ भी लड़ रहे हैं और आपस में भी लड़ रहे हैं।''
>
> ''कैसी बातें कर रहे हो? क्या तुम फिर मजाक करने लगे?''
>
> ''धर्म के नाम पर आपस में लड़ते हैं, देश के नाम पर हमारे साथ लड़ते हैं'' रिचर्ड ने मुसकुराकर कहा।

''बहुत चालाक नहीं बनो, रिचर्ड। मैं सब जानती हूँ। देश के नाम पर ये लोग तुम्हारे साथ लड़ते हैं और धर्म के नाम पर तुम इन्हें आपस में लड़ाते हो। क्यों, ठीक है ना ?
''हम नहीं लड़ाते, लीजा, ये लोग खुद लड़ते हैं।''
''तुम इन्हें लड़ने से रोक भी तो सकते हो। आखिर हैं तो ये एक ही जाति के लोग।''
रिचर्ड को अपनी पत्नी का भोलापन प्यारा लगा। उसने झुककर लीजा का गाल चूम लिया। फिर बोला:
''डार्लिंग, हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।''
तभी खानसामा ट्रे उठाये चला आया। उसे देखकर लीजा बोली :
''यह हिंदू है या मुसलमान?''
''तुम बताओ'' रिचर्ड ने कहा।
''लीजा देर तक खानसामे को देखती रही जो ट्रे का सामान रख चुकने के बाद बुत-का-बुत बना खड़ा था।'

तात्पर्य यह कि राज्य के सामाजिक दायित्वबोध में शिथिलता से बहुत सारी उलझनें पैदा हो जाती हैं। ये उलझनें तब और मारक हो जाती हैं, जब राज्य के एक अंश व्यवस्थापिका या सरकार में संवैधानिक मनोभावों के प्रति वास्तविक और आंतरिक आदर कम होने लगता है। संविधान व्यवस्थापिका को ताकत तो प्रदान करता है, लेकिन साथ में कुछ शर्तें भी लगाता है। व्यवस्थापिका को ये शर्तें पसंद नहीं आती हैं। इस स्थिति में राज्य के लिए संविधान उसका जीवित अवयव न होकर सिर्फ यांत्रिक अवयव बन जाता है। इस स्थिति में राज्य की मूल सामाजिक आकांक्षा और सरकार के करतब में अर्थात राज्य के सिद्धांत और आचरण में एक प्रकार की फाँक विकसित हो जाती है। यह फाँक अंतत: राज्य की आंतरिक संरचना को विखंडित कर देती है। ऐसे विखंडनों से होनेवाली क्षति की पूर्ति एक हद तक राज्य अपनी आंतरिक शक्ति से कर लिया करता है। लेकिन एक हद तक ही। उसके बाद समाज के आंतरिक समर्थन से विच्छिन्न होता हुआ राज्य एक प्रकार की रुग्नता की स्थिति में पहुँचकर खटिया पकड़ लेता है। इधर इस तरह की फाँक कुछ अधिक तेजी से विकसित हो रही है। इस फाँक में सारे जनतांत्रिक मूल्य धीरे-धीरे समाते जा रहे हैं। ऊपर से चाहे जितना चमचम दिखे, हकीकत लेकिन यह है कि हमारा जनतंत्र धीरे-धीरे खटिया पकड़ने लगा है। यह अतिकथन या अग्रकथन नहीं है। रघुवीर सहाय लोकतंत्र के इस संकट को रेखांकित करते हैं:

'लोकतंत्र का विकास राज्यहीन समाज की ओर होता है/ इसलिए लोकतंत्र को लोकतंत्र में शासक बिगाड़ाकर राजतंत्र बनाते हैं।'[4]

भयावह यह कि इधर हमारे शासकों के अंतर्मन में जनतंत्र से प्राप्त शक्तियों के बल पर राजतंत्रीय आचरण के प्रति तीव्र आकर्षण बढ़ता ही जा रहा है। राज्य और नागरिक के संवैधानिक संबंध की आत्मीयता में भारी गिरावट आई है। जन के लिए जनतंत्र कवच का काम करता है। कवच आघातों से हमारी रक्षा करता है, अगर हम कवच की रक्षा कर सकें। अभी कवच की रक्षा का ही सवाल प्रमुख है। जन के जीवन को सुरक्षित बनाने में जनतंत्र मददगार हो, यह एक बुनियादी और सामान्य नागरिक अभिलाषा है। आज हम जिस स्थिति से गुजर रहे हैं, वह असामान्य है। इस असामान्य स्थिति में जनतंत्र के समग्र के अक्षत बने रहने के लिए जन सक्रियता अनिवार्य है। जन सक्रियता कैसे हो .. ? यह हमारी चिंता का विषय है।

संविधान की मूल आकांक्षा के अनुसार भारतीय राज्य धर्मनिरपेक्ष है और इसके नागरिकों को धर्म पालन की पूरी स्वतंत्रता है। यह एक औपचारिक कथन है। व्यवहारिक स्थिति यह है कि न तो राज्य संवैधानिक आकांक्षा के अनुरूप पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष है और न तो समाज धर्मपालन के नाम पर कुछ भी करने को पूर्ण स्वतंत्र है। जो हो, यह विचार करना जरूरी है कि कहीं संवैधानिक आकांक्षा के अनुसार राज्य के धर्मनिरपेक्ष और समाज के धर्मप्राण होने से किसी प्रकार का द्वैध अर्थात दो व्याघाती वैधता का तो जन्म नहीं होता है? क्या इस संवैधानिक आकांक्षा के चलते राज्य और समाज में धर्म को लेकर किसी प्रकार के टकराव के कारण अंतर्निहित हो गये हैं? क्या यह स्थिति राज्य और समाज का वैर की स्थिति में डालती है? इस पर गंभीरता से विचार किये जाने की जरूरत है। यों तो पूरी दुनिया में सभ्यता और धर्म को समानार्थी बनाते हुए सभ्यताओं के संघर्ष के नाम पर धर्मों के संघर्ष की न सिर्फ आशंका व्यक्त की जा रही है, बल्कि उस संघर्ष का आह्वान भी किया जा रहा है। तेजी से बदलाव की और बढ़ रही दुनिया के धर्म क्षेत्र में ही नहीं जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी नवपुरोहितवाद का दखल बढ़ रहा है। धर्म का एकांत नये सिरे से खंडित हो गया है। शांति जाप करता हुआ धर्म तुमुल कोलाहल कलह के बीच जा पहुँचा है। दुनिया में बहाई जा रही इस हवा से हमारा घर भी अछूता नहीं है। सोच कर कैसा लगता है कि विज्ञान और विकास के इस युग में हमारी राष्ट्रीय ऊर्जा और मेधा का अधिकांश धर्मस्थलों और धर्म के प्रतीकों की तथाकथित सुरक्षा पर खर्च हो रहा है। धर्म के महासागर में निम्न दबाव का विनाशकारी क्षेत्र बन गया है। हमारे जनतंत्र को इस निम्न दबाव क्षेत्र के चक्रवात से बार-बार गहरे झटके लग रहे हैं। सामान्य रूप से, 'धर्मनिरपेक्ष

भारतीय राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज' के कारण राज्य और नागरिक संबंधों की जटिलताएँ कई बार सामान्य रूप से समझ में नहीं आने लायक उलझनें पैदा करती हैं। 'धर्मनिरपेक्ष भारतीय राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज' को ठीक से समझने के लिए भारतीय समाज और राज्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को बार-बार टटोलना होगा। हमारे संविधान निर्माताओं ने क्यों राज्य को धर्मनिरपेक्ष बनाने की कोशिश की और अगर ऐसा करना जरूरी ही था तो फिर समाज को धर्मपालन की छूट क्यों दी? यह कैसी दुविधा में हमारे पुरखों ने हमें डाल दिया? इस दुविधा के आधार तत्त्व हमारी संवैधानिक व्यवस्था में है या हमारे सार्वजनिक जीवन चरित में हैं? क्या हमारे पुरखों के द्वारा ऐसा करना उनकी सद्िच्छाओं का ही नतीजा है या भारतीय समाज और राज्य के ऐतिहासिक विकासक्रम के दबाव में ऐसा ही करना निर्विकल्प भी था? इन सवालों के जबाव के लिए भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्षता से सरोकार और भारतीय समाज के धर्मनिरपेक्षता से सरोकार को उनके ऐतिहासिक विकासक्रम में समझना होगा।

पहले, भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्षता से सरोकार। डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि[5] पर विचार करते हुए कहते हैं कि अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया। आगे डॉ. राधाकृष्णन् 'एडिक्ट्स आफ अशोक' (नीकम एवं मैककियोन) के संदर्भ से, शिलालेख - 12 में अशोक की घोषणा का उल्लेख करते हैं। इस उल्लेख के अनुसार:

> 'दूसरों के सब धर्म सम्मान के योग्य हैं। उनका आदर करनेवाला अपने ही धर्म का सम्मान करता है; साथ ही वह दूसरों के धर्म की सेवा भी करता है। इसके विपरीत करके वह अपने धर्म को आघात पहुँचाता है और दूसरों के धर्म की भी कुसेवा करता है, क्योंकि यदि अपने धर्म के प्रति निष्ठा के कारण या उसकी यशस्विता के लिए कोई अपने धर्म की बड़ाई और दूसरे धर्म की निंदा करता है तो वह अपने धर्म को हानि पहुँचाता है। इसलिए केवल ताल-मेल ही श्लाघ्य है: समवाय एव साधु:, क्योंकि ताल-मेल से ही दूसरों द्वारा स्वीकृत धर्म की धारणा का ज्ञान और उसके प्रति सम्मान होता है। सम्राट प्रियदर्शी इच्छा करते हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धांतों को जानें और उचित सिद्धांतों की उपलब्धि करें। जो इन विशिष्ट मतों से संबद्ध हैं, उनसे कह दिया जाना चाहिए कि सम्राट प्रियदर्शी उपहारों एवं उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना

> उन गुणों की वृद्धि को देते हैं जो सभी धर्मों के आदमियों के लिए आवश्यक है।'

भारतीय समाज में हिंदू-मुस्लिम-संबंध पर चर्चा करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' उल्लिखित करते हैं कि बाबर ने हुमायूँ के लिए एक वसीयतनामा लिखा था। इसकी प्रति भोपाल के राज-पुस्तकालय में मौजूद बताई जाती है। इस वसीयतनामा में हुमायूँ को संबोधित करते हुए बाबरने कहा है:

> 'हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअस्सुब से काम न लेना; निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना।'[6]

कुछ लोग इस बात पर दिली तौर पर यकीन करते हैं कि भारत एक धर्मप्राण देश रहा है। धर्म इसके लिए सबसे बड़ा मूल्य रहा है। धर्मनिरपेक्षता अ-भारतीय अवधारणा है। यह सेकुलरिज्म का अनुवाद मात्र है, भारतीय अनुभव नहीं। यह बात अंशत: ही सही है। यह सच है कि भारत धर्मप्राण देश रहा है। सच यह भी है कि जब पूरी दुनिया के धर्मों में अपेक्षाकृत अधिक कट्टरता थी, तब भी धर्म को लेकर भारतीय समाज में गौरवपूर्ण उदारता थी। भारत के लोगों के लिए गर्व की बात, उनका किसी धर्म विशेष का होना न होकर सामाजिक विचार के मामले में ऐतिहासिक रूप से उनका धर्मनिरपेक्ष होना है। सही बात तो यह है कि धर्मनिरपेक्षता का विचार दुनिया को अप्रतिम भारतीय देन है। आज विज्ञान और मानवीय विकास के इस युग में जब पूरी दुनिया समानता और स्वतंत्रता का आश्वासन देनेवाले जनतंत्र को सामाजिक व्यवस्था के मूलाधार के रूप में बरत रही है तब धुरंधर लोग समाज को धर्म के जंजाल में नये सिरे फाँसाने के उद्यम में लग रहे हैं। हम महसूस कर सकते हैं कि राजतंत्र के कायम रहते ही नहीं सर्वाधिक सशक्त रूप में होने के बावजूद ईसा पूर्व सम्राट अशोक की यह आकांक्षा कि 'केवल ताल-मेल ही श्लाध्य है: समवाय एव साधु:' और मध्यकाल में हुमायूँ को बाबर की यह सीख कि 'निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना' कितना महत्त्वपूर्ण और आश्वस्तिकर है! धर्मनिरपेक्ष विचार का इससे सुंदर उदाहरण और कहाँ मिल सकता है?

अशोक के बौद्ध और बाबर के इसलामिक संदर्भ के अतिरिक्त हिंदु संदर्भ को देखना भी दिलचस्प हो सकता है। हिंदु जीवन में चार पुरुषार्थों अर्थात जीवन के चार महान लक्ष्यों की बड़ी चर्चा होती है। ये चार पुरुषार्थ या महान लक्ष्य हैं--- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके पारस्परिक संबंध के बारे में बताया जाता है कि वही धर्म है जो अर्थ के अर्जन में सहायक होता है; वही अर्थ है जो काम की संतुष्टि में सहायक होता है; वही काम है जो मोक्ष लाभ

करने में सहायक होता है। मोक्ष परम मूल्य है, सबसे बड़ा पुरुषार्थ। धर्म सबसे शुरुआती पुरुषार्थ है। अशोक के 'केवल ताल-मेल ही श्लाध्य है: समवाय एव साधु:' और बाबर के 'निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना' को ध्यान में रखते हुए ऋगवेद की अंतिम ऋचा का स्मरण किया जा सकता है,

संगच्छध्वं सवदध्वं
सं वो मनांसि जानताम् ।
समानी व: आकूति:,
समाना हृदयानि व:
समानमस्तु वो मनो
यथा व: सुसहासति (10 - 191)

इसे उद्धृत करते हुए विद्वान लोग अर्थ करते हैं: -

मिलकर चलो;
मिल-जुलकर बात करो;
तुम्हारे मन एक समान जानें;
तुम्हारे यत्न साथ-साथ हों;
तुम्हारे हृदय एकमत हों;
तुम्हारे मन संयुक्त हों;
जिसे हम सब सुखी हो सकें।

संक्षेप में यह कि भारत जब धर्मप्राण देश था तब उसके धर्म का प्राण किसी पूर्वपरिभाषित और सीमाबद्ध धर्म-संहिता में नहीं बसता था। चरैवेति, चरैवेति भारतीय जीवन के अन्य पक्षों के साथ-साथ इसके धर्म की गत्यात्मकता को भी प्रतिध्वनित करता है। जब विभिन्न धर्म अपने आज के रूप में नहीं थे तब भी धर्म को लेकर भारतीय मानस बहुत गतिशील था। यक्ष ने यह भी तो पूछा था धर्मराज से कि क्या है धर्म। इस सवाल का जवाब उतना ही आसान होता जितनी आसानी से आज के धर्मधुरंधर इसका जवाब दे देते हैं, तब यह प्रश्न यक्ष-प्रश्न बनता ही क्यों? धर्म बहुत ही जटिल मामला है। इसे किसी एक ही ओर से समझने का दुराग्रह हमें खतरे में डालता है। मूल बात यह है कि एक घाट पर बँध कर धर्म गतिशील नहीं रह सकता है। गतिशीलता के बिना धर्म जीवित नहीं रह सकता है। धर्म अपने से निरपेक्ष रहकर ही गतिशील रह सकता है। इसलिए धर्मनिरपेक्षता धर्म के प्राणवंत बने रहने की भी अनिवार्य शर्त है। इस तथ्य को अपने ऐतिहासिक विकासक्रम में भारतीय राज्य और समाज दोनों ने हासिल कर लिया था। न सिर्फ हासिल कर लिया था बल्कि अपने अस्तित्व के लिए इसे अपनी संवेदना का अंग बना भी लिया था। परवर्ती

दिनों में इसमें जो भी फाँक आई है वह राजनीतिक कारणों से सत्ता के लिए धर्म के दुरुपयोग की प्रवृत्ति के कारण पैदा हुई है। ये अज्ञानी नहीं हैं। ये जानते हैं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है। लेकिन सत्ता की आकांक्षा में इनकी स्थिति उस दुर्योधन की तरह है जो कृष्ण से कहता है:

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति:।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति:।

राजनीतिक कारणों से सत्ता के लिए धर्म के दुरुपयोग का भी अपना इतिहास रहा है। सच्चे साधु-संतों और साहित्यिकों ने इसे उसी ऐतिहासिक विकासक्रम में इस दुरुपयोग को समझा भी है और उसके प्रति सावधान भी किया है। इस सावधान करने का भी अपना इतिहास है। बहुत विस्तार में जाने की गुंजाइश यहाँ नहीं है, फिर भी प्रसंगवश कुछ की चर्चा तो की ही जा सकती है। इससे उनकी चिंता के मूल केंद्र और उस समय के सामाजिक संबंध में धार्मिक परिप्रेक्ष्य से बनाये जा रहे मारक तनाव का भी पता चलता है। धर्म और भक्ति एक ही नहीं है, फिर भी ध्यान में रखने की बात यह है कि ये कवि अ-धार्मिक नहीं थे। आज के किसी भी स्वनामधन्य धार्मिकों से अधिक धार्मिक थे। लेकिन उनका अपना धर्म उनके निर्विशिष्ट मनुष्य बनने में कहीं से बाधक नहीं बन रहा था। बल्कि निज धर्म के ढाँचे की कोष्ठबद्धता से बाहर निकलकर उनके मनुष्यतर बनने की प्रेरणा बन रहा था।

हिंदू ध्यावे देहरा, मूसलमान मसीत,
जोगी ध्यावे परम पद, जहँ देहरा न मसीत।
हिंदू आखै राम को, मुसलमान खेदाइ,
जोगी अलख को, तहँ राम अछै न खोदाइ।
:गोरखनाथ (10वीं 11वीं सदी)

हिंदू पूजे देहरा, मूसलमान मसीत,
नामा सोई सेविया, जहँ देहरा न मसीत।
:नामदेव (जन्म सन्1170 ई.)

हिंदु कहत है, राम हमारा, मुसलमान रहमाना,
आपस में दोउ लड़े मरत हैं, भेद न कोई जाना।
:कबीरदास (15वीं सदी)

दोनों भाई हाथ-पग, दोनो भाई कान,
दोनों भाई नैन हैं, हिंदू मूसलमान।
:दादूदयाल (मृत्यु सन 1603)

रज्जब हिंदू-तुरक तजि, सुमिरहु सिरजनहार,
पखापखी सूँ प्रीति करि, कौन पहुँचा पार?
:रज्जब जी (अनुमित मृत्युवर्ष सन 1683)

गोरखनाथ, नामदेव, कबीर, दादूदयाल, रज्जबजी आदि के भक्ति संदर्भ से हम समझ सकते हैं कि सामाजिक एकता के संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष होकर किस प्रकार धार्मिक हुआ जा सकता है। धर्म मूलत: उस लोक का मामला माना जाता है। इन कवियों के यहाँ धर्म के ये भक्ति संदर्भ पूर्णत: इसी लोक से संबंधित है। यह स्थिति उस राजतंत्र में थी जिस राजतंत्र में देश के शासन की बागडोर उन मुसलमान शासकों के हाथ में थी, जिन्हें आज कट्टर और क्रूर बताया जाता है। इस पूरे प्रकरण में एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता है कि उस समय भी सवर्ण कवियों की वाणी में अन्य उदात्त चेतना चाहे जितनी हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही दीखता है। क्या यह महज संयोग है? या इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है? परीक्षा की जानी चाहिए कि धर्म पर आधारित भारतीय समाज की जिस संरचना से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बहुत खतरा है, धर्म पर आधारित उस भारतीय समाज की जिस संरचना का कितना अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं:

> 'औसत मुसलमान आचारों में उदार और विचारों में कट्टर होता है। मिलने-जुलने, खान-पान और सामाजिक सौजन्य में वह किसी का भी निरादर नहीं करता। लेकिन, विचार के धरातल पर उसमें विरोधी से सहानुभूति बहुत कम होती है। मसलन, मुसलमान के लिए इस संभावना को कबूल करना कठिन है कि दुनिया के अन्य धर्म इसलाम की छाया भी छू सकते हैं। हिंदू का हाल ठीक इसके विपरीत है। वह विचार के धरातल पर अत्यंत उदार होता है। संसार के अन्य धर्मों को अपने ही धर्म के समान मानकर उन पर श्रद्धा करने में कठिनाई, कदाचित ही, किसी हिंदू को होगी। परंतु, सामाजिक आचार के मामले में हिंदू जितने संकीर्ण होते हैं उतने संकीर्ण दुनिया के और कोई लोग नहीं हैं।'[7]

के डर के बीच ईमान की बात यह है कि 'दिनकर' का हिंदू और मुसलमान के बारे में ऐसा मानना कुछ हद तक ही ठीक है। कुछ हद तक ही इसलिए कि विचार के धरातल पर उदार और आचरण के आधार पर कट्टर जिस हिंदू स्वभाव की चर्चा वे करते हैं वह सिर्फ हिंदू धर्म के सवर्ण पक्ष का ही स्वभाव है। जो हो, सचाई यह है कि भारतीय राज्य की धर्मनिरपेक्ष आकांक्षा को अवहेलित करते हुए हिंदू और मुसलमान के राजनीतिक और सामाजिक संबंधों में नाना प्रकार के अवरोध उत्पन्न करने की चेष्टा होती रही है। इस अवरोध से सामाजिक मन में रसौलियाँ भी बनती रही हैं। ये रसौलियाँ सबसे बड़े और भद्दे रूप में हिंदी समाज के मन में बनी हैं। इसलिए हिंदी समाज के बनाव पर भी विचार किया जाना चाहिए। देखा जाना चाहिए कि हिंदी समाज इन रसौलियों के बनने नहीं देने के लिए कितना लंबा संघर्ष करता रहा है। देखना यह भी चाहिए कि क्यों उसके लंबे संघर्ष क्यों पूरी तरह सफल नहीं हो पाये हैं। धर्म पर आधारित समाज की धर्मनिरपेक्ष चेतना के होने का बड़ा प्रमाण हिंदी समाज के लंबे संघर्ष के अलावे और क्या हो सकता है? हमारी समस्या यह है कि समाज मूल रूप से धर्म पर आधारित होने के बावजूद अपने आचरण में धर्मनिरपेक्ष है। इसके ठीक विपरीत राज्य धर्मनिरपेक्षता पर आधारित होने के बावजूद अपने आचरण में धार्मिक होता जा रहा है। इसके पीछे सक्रिय स्वार्थ के अवगुंठन को खोलना समाज और साहित्य की बड़ी चुनौती है। हिंदी समाज का लंबा संघर्ष पूर्णकाम नहीं हो सका तो क्या हुआ हमारे लिए प्रणम्य तो है ही। बाबा नागार्जुन के शब्दों में हो न सके जो पूर्णकाम, उनको प्रणाम।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान

1. यशपालः धर्म-निरपेक्ष राज्य और धर्म-प्राण प्रजा
2. जन संस्कृति का गोरख पांडे पर केंद्रित अंक
3. प्रेमचंदः पंच-परमेश्वर का पहला अनुच्छेद
4. रघुवीर सहायः लोकतंत्र का संकटः एक समय था
5. डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णनः भारतीय संस्कृति कुछ विचार
6. रामधारी सिंह दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय
7. रामधारी सिंह दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय